IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

भारतीय संस्कृति में जल संरक्षण और संवर्धन

डा. पंकज पांडे

एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास

शहीद दुर्गा मल्ल राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, डोईवाला (देहरादून)

सारांश: भारतीय संस्कृति में जल संरक्षण का विशेष महत्व है, क्योंकि जल को जीवन का आधार और पवित्र तत्व माना जाता है। प्राचीन काल से ही वेदों, पुराणों और ग्रंथों में जल की महत्ता का वर्णन मिलता है, जहां नदियों, तालाबों और कुओं को पूजनीय माना गया है। भारतीय परंपराओं में वर्षा जल संचय, तालाब निर्माण, और बावड़ी जैसी प्रणालियों के माध्यम से जल संरक्षण को बढ़ावा दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी पारंपरिक जल प्रबंधन प्रथाएं, जैसे जोहड़ और कुएं, जल की कमी से निपटने में सहायक हैं। यह संस्कृति हमें जल के विवेकपूर्ण उपयोग और पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक रहने की प्रेरणा देती है, जो आधुनिक युग में भी प्रासंगिक है ।

कुंजी शब्द : भारतीय संस्कृति, जल की महत्ता, हिमालयी जीवन, कृषि, जल प्रदूषण

हिमालय अपनी उद्दातता, दिव्यता और भव्यता के कारण जहां एक और समस्त भारतवासियों के लिए आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत रहा है, वहीं हिमालय और गंगा ने भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति का पोषण व संवर्धन कर इस देश को समृद्धि भी प्रदान की है। जब-जब भारतीय संस्कृति व समाज संकटग्रस्त हुए हैं,भारतवर्ष के महान चिंतक, स्वतंत्रता संघर्ष के योद्धा, दार्शनिक, कवि, कलाकार सभी को हिमालय ने प्रेरणा प्रदान की है। आखिर हिमालय में ऐसा क्या है...? हिमालय की उद्दातता, उसके उत्तुंग हिममंडित धवल शिखरों की दिव्यता और प्राकृतिक सौंदर्य की भव्यता मनुष्य को इस लोक से परे एक अलौकिक दुनिया में ले जाती है। मनुष्य अपनी क्षुद्रता , स्वार्थपरता और हीनता पर ग्लानि महसूस कर अपने को विराट का एक अंश समझता हुआ स्वयं को भी उच्चता की ही भाव भूमि पर अवस्थित पाता है। हिमालय का सानिध्य मानवोचित दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर उसे जीवन संघर्ष में आगे बढ़ाने की प्रेरणा प्रदान करता है, इसीलिए आदि गुरु शंकराचार्य से लेकर हमारे नवजागरण व स्वाधीनता संग्राम के महापुरुष भी प्रेरणा प्राप्त करने के लिए हिमालय की यात्राएं करते रहे हैं। वे चाहे स्वामी विवेकानंद हों, स्वामी रामतीर्थ हों, महात्मा गांधी हो या पंडित जवाहरलाल नेहरू। पंडित नेहरू ने अपने ऊपर पड़े हिमालय के प्रभाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है - "क्या सोचते होंगे यह पत्थर जब वह अपनी ऊंचाई से मनुष्यों की भीड़ को देखते होंगे - उनके बच्चों के खेल, उनके बड़ों की लड़ाइयां, फरेब और बेवकूफी। हजारों वर्षों में इन्होंने कितना कम सीखा, कितने दिन और लगेंगे इनको अक्कल और समझ आने में।" वस्तुत हमारे पूर्वजों ने जो अपने तीर्थ हिमालय की ऊंची चोटियों और पहाड़ी

कंदराओं में स्थापित किये उसके पीछे एक अद्भुत विज्ञान छुपा था। वे प्रकृति के शक्तियों के तो उपासक व जानकार थे ही, मानव प्रकृति की गुह्यतम मनोवैज्ञानिक कंदराओं और खोहों में भी उनकी गति थी। मनुष्य जब तीर्थयात्रा पर निकलता है तब वह शारीरिक श्रम करता हुआ, संकटों से घिरा हुआ अपनी आत्मा का भी साक्षात्कार करता है और तभी उसे जीवन में अपने अस्तित्व का आभास होता है इसीलिए प्राय: परंपरा से ही तीर्थ यात्राएं कठिन रही हैं। इतनी कठिन कि मनुष्य के प्राण तक दांव पर लगे रहते थे। पारंपरिक जीवन में तीर्थ यात्रा को अत्यधिक महत्व दिया गया था क्योंकि यह जीवन में पूर्णता के अनुभव के लिए आवश्यक मानी गई। सुभाषित भांडागर में यात्रा का महत्व बताते हुए लिखा गया है कि "जो लोग यात्रा नहीं करते उनकी बुद्धि संकुचित होकर पानी में पड़ी घी की बूंद की तरह अचल और जड़ हो जाती है जबकि यात्रा करने वाले व्यक्ति की बुद्धि पानी में पड़ी तेल की बूंद की तरह फैल जाती है।"[1] आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने अपनी क्षुद्रता, स्वार्थपरता, व हीनता को दूर कर आत्म विकास व आत्म प्रसार को प्राप्त करने के लिए भारतीय संस्कृति में तीर्थ यात्रा की अवधारणा पैदा हुई थी। यात्राएं मनुष्य को सहिष्णु, शिक्षित, प्रकृति प्रेमी बनाने के लिए थी और उनका सबसे बड़ा बड़ा उद्देश्य था मनुष्य के अंतर को रूपांतरित करना। हिंदी के विख्यात कवि एवं चिंतक अज्ञेय ने अपनी यात्रा वृतांत 'एक बूंद सहसा उछली' में लिखा है - "यात्रा जितनी बाहरी होती है उतनी ही भीतरी भी"[2] और वास्तव में यात्रा यदि भीतरी ना हो तो बाहरी यात्रा निष्फल ही नहीं निरर्थक भी है। कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने तो कविता को 'आवेग - त्वरित- काल यात्री' और 'परम स्वाधीन विश्वयात्री जनचरित्री' कहा है। कविता की तरह ही यात्रा भी कभी खत्म नहीं होती और यह मूलतः जन- चरित्री होती है ।[3] यात्रा जब वाह्योन्मुख होती है तो हमें प्रकृति के विविध रूपों पहाड़, नदियों, झरने, समुद्र, जंगल, पत्थर आदि के समीप ले जाती है और यात्रा जब अंतर्मुखी होती है तो मनुष्य के मन, चेतना और हृदय के भीतर से कला, साहित्य, दर्शन, चिंतन व संस्कृति की रचना करती है इसीलिए हमारे पूर्वजों ने यात्राओं और तीर्थ यात्राओं को इतना अधिक महत्व दिया था।

हिमालय मात्रा अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु आज के भौतिकवादी- उपभोक्तावादी युग में उसका अपना भौतिक महत्व भी है बल्कि यूं कहा जाए कि मनुष्य के जीवन के लिए जो अपरिहार्य तत्व हैं- जैसे हवा, पानी, भोजन, जल आदि आदि। उन्हें ही मनुष्य ने आध्यात्मिक महत्व भी दिया है तो अनुचित नहीं होगा। हिमालय ने ही भारतवर्ष की सभ्यता व संस्कृति को आकार व स्वरूप प्रदान किया है। हिमालय से निकलने वाली सदानीरा नदियों ने ही इस भारत भूमि को शस्य श्यामला बनाकर इसके निवासियों के जीवन को समृद्धि प्रदान की है। भारत की संस्कृति को जो ऊर्जा और गतिशीलता प्रदान हुई है वह इसकी नदियों के तटों पर ही पल्लवित और पुष्पित हुई है। मध्य हिमालय जिसे स्कंद पुराण में केदारखंड कहा गया है। गंगा यमुना जैसी पवित्र नदियों का उद्गम स्थल रहा है। हिंदुओं के चार धाम गंगोत्री, यमनोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ केदार खंड या वर्तमान में कहें तो गढ़वाल क्षेत्र में अवस्थित हैं। इसी केदारखंड क्षेत्र में उच्च हिमालय क्षेत्र में अनेक सरोवर व कुंड अवस्थित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि इस क्षेत्र में निकलने वाली छोटी बड़ी नदियों के उद्गम स्रोत यह सरोवर और कुंड ही हैं। इन सरोवरों व कुंडों पर प्रत्येक वर्ष स्थानीय समाज द्वारा आयोजित मेले लगते हैं। प्रत्येक सरोवर व कुंड से कोई न कोई मिथक या लोक गाथा जुड़ी हुई है जो उनके ऐतिहासिक महत्व व पहाड़ के जीवन में जल की पवित्रता की ओर संकेत करती हैं। यह इंगित करता है कि जल को पहाड़ी लोक संस्कृति में अत्यधिक महत्व दिया गया है। वैदिक काल से ही जन और भू को एक स्नेह सूत्र में बांधा गया था। ऋग्वेद के पृथ्वी सूक्त में कहा गया है- "माता भूमि पुत्रोऽहं पृथ्व्या।' यह धरती मां विश्वम्भरा और हिरण्यवक्षा है- विश्वंभरा वसुधा प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगती निवेशिनि। यह दूध देने के लिए पन्हाई हुई धेनु है, यह पर्जन्य प्रिया है, यह वर्षा से जलमयी होकर अनेक प्रकार की

वनस्पतियों को उत्पन्न करती है और जीवन को धारण करती है। पर्वत नदियों को उत्पन्न करने के कारण महत्वपूर्ण हैं। वेदों में कहा गया है कि उनकी गोद में नदियों के संगम पर ज्ञानी को बुद्धि उपजती है- उपग्रह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां। (ऋग्वेद 8.6.24)।[4] छांदोग्योपनिषद में भी अन्न से बढ़कर जल को बताया गया है। महाभारत के भीष्मपर्व में नदियों को विश्वमातर् कहा गया है-

विश्वस्य मातरसर्वा: सर्वाश्चैव महासभा:।

इत्येता समिति राजन्समाख्याता यथास्मृति।।

(भीष्म पर्व 9.37-38)

भारतवर्ष की शास्त्रीय परंपरा के समान ही पहाड़ की लोक परंपरा भी जल को अत्यधिक महत्व देती है। उत्तराखंडी संस्कृति और समाज के मर्मज्ञ विद्वान डॉ.गोविंद चातक ने लिखा है की "फतेह पर्वत क्षेत्र में जल को विष्णु कहा जाता है तथा उसे अपवित्र करना पाप माना जाता है।" उनका मानना है कि प्राचीन काल में जलाशय, जलस्रोतों और नदियों में बलि देने की प्रथा भी रही होगी जिनके प्रमाण लोकगीतों में मिलते हैं। रवांई क्षेत्र में प्रचलित एक लोकगीत में तमसा नदी की दो शाखाओं रुपिन - सूपिन का उल्लेखबलि प्रसंग में आया है - 'रुपणी लै बाखरो देउलो, सूपिण लै खाडू।'[5] मलेथा की कूल के संबंध में भी यह लोक कथा मिलती है कि जब माधो सिंह भंडारी के द्वारा कूल निकालने के बाद भी उसमें पानी आगे नहीं बढ़ा तो माधो सिंह भंडारी ने अपनी कुलदेवी की आज्ञा अनुसार अपने पुत्र गजे सिंह की बलि दी थी। पवित्र धामों के दर्शन से पूर्व कुंडों और सरोवरों में स्नान करने की परंपरा भी रही है। लोक समाज में जल को पवित्र माने जाने के साथ ही उसे सामूहिक संपत्ति माना गया है ना की व्यक्तिगत। इसीलिए जहां मैदानों में कृषि कार्य में सिंचाई के पानी के लिए प्राय: ही लड़ाई झगड़ा और हत्याएं तक हो जाती हैं वहीं पहाड़ में सिंचाई के पानी का प्रबंध करने की अपनी एक विशिष्ट व्यवस्था है जिसे 'कूलवाली' कहते हैं। नदियों से खेतों को निकालने वाली गूलों का निर्माण सामूहिक श्रमदान से होता है तथा यह गूल समाज की सामूहिक संपत्ति होती थी। कूल वालों की सामूहिक सहमति से ही नियुक्ति की जाती है। कूल वाले समानता के आधार पर काश्तकारों को खेतों में पानी देते हैं और इसके बदले फसल काटते समय उन्हें किसान एक दोस्त धान के उत्पादन पर एक पाथा धान यानी सोलवां हिस्सा देते हैं।[6]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पहाड़ में सरोवरों, तालों, कुंडों, नदियों व जल स्रोतों के प्रति जो पूज्य भाव पाया जाता है वह केवल आध्यात्मिक ही नहीं अपितु उसके पीछे जल स्रोतों का संरक्षण व संवर्धन का विज्ञान भी निहित है। किंतु वर्तमान भौतिकतावादी और उपभोग प्रधान संस्कृति ने परंपरागत जल स्रोतों का दोहन और शोषण ही नहीं किया बल्कि उनको नष्ट कर देने के साथ ही पारंपरिक जीवन दर्शन और पारंपरिक विज्ञान को पिछड़ेपन का प्रतीक बनाकर उसे परंपरा को समाप्त करने का कार्य भी किया है।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि 1.3 लाख मानव निर्मित कुंड व तालाब पूरे भारतवर्ष में थे जो कि सैटलाइट इमेजरी तकनीक से पुनः खोजे गए हैं।[7] वैज्ञानिकों का मानना है कि तृतीय विश्व युद्ध का कारण पानी ही होगा। विश्व में वैश्वीकरण व उदारीकरण की आंधी के पश्चात बाजार ही मानव जीवन व प्रकृति का नियामक हो गया है और प्राकृतिक संसाधनों की लूट ने जीवन व प्रकृति के संतुलन को समाप्त कर पृथ्वी को उसे बिंदु पर खड़ा कर दिया है जहां मानव जीवन और पृथ्वी का अस्तित्व ही खतरे में है। पानी जैसी बुनियादी आवश्यकता को भी निजी कंपनियों के हवाले कर पानी को एक पण्य में बदल दिया गया है और मानव की भोग व लिप्सा ने जल स्रोतों, सरोवरों और नदियों को प्रदूषित कर गंदे नालों में बदल दिया है।

वास्तव में यह प्रकृति के प्रति बदली जीवन दृष्टि का परिणाम है। पश्चिम में 15वीं शताब्दी में नवजागरण के दौरान जिस आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ उसने मनुष्य को प्रकृति का मालिक बनने की अवधारणा को जन्म दिया। प्रकृति की लूट खसोट से मनुष्य की भोग लिप्सा को पूर्ण करना ही उसका अंतिम उद्देश्य बन गया। फलतः विकास की ऐसी अवधारणा का जन्म हुआ जिसने प्रकृति और मनुष्य के रिश्तों को बदल दिया और उसकी अंतिम परिणति पृथ्वी और मनुष्य के अस्तित्व के संकट के रूप में हुई है। गांधी जी ने इसी पश्चिमी भोगवादी सभ्यता के आसन्न संकट से आगाह करते हुए चेतावनी दी थी कि- "प्रकृति मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम है लेकिन उसके लालच की नहीं।" जबकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति मनुष्य को प्रकृति का मालिक नहीं प्रकृति का एक अंश समझती है। वह प्रकृति के जड़ - चेतन, गोचर - अगोचर पदार्थों में एक ही विश्व चेतना की अभिव्यक्ति देखती है जिसका कि वह स्वयं एक अंश है। इसलिए वह प्रकृति और मनुष्य के रिश्तों को एक सामरस्य व संगति में देखने की पक्षधर है ना कि उसके मध्य विरोध देखती है। भारतीय जीवन दृष्टि में विकास का अर्थ है -सतत विकास ,भीतरी और बाह्य विकास। हिंसा नहीं अहिंसा, घृणा के स्थान पर प्रेम, भोग के स्थान पर त्याग। ईशावास्योपनिषद में कहा गया है -

ईशावास्यमिदंसर्वं यत्किंचित जगत्यांजगत।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्विदनम्।।

अर्थात जगत में जो कुछ भी है सब ईश्वर का अंश है और हमें त्याग के साथ भोग करना चाहिए। इसीलिए यहां पहाड़, नदी, पेड़, पत्थर, जल, जंगल,जमीन सबके प्रति एक आत्मीयता और दिव्यता का भाव पाया जाता है। अमेरिका के उपराष्ट्रपति व पर्यावरण विशेषज्ञ अल गोर ने भी 'बैलेंसिंग द अर्थ' में लिखा है-

"The sacredness of water receives perhaps the greatest emphasis in Hinduism. According to its teaching the ' Water of life are believed to bring to humankind the life forces itself."[8]

अतः त्याग के साथ भोग के दर्शन को अपना कर ही जल जल स्रोतों व इस पृथ्वी का संरक्षण संभव है।

Endnotes

1. . गोबिंद चातक,पर्यावरण और संस्कृति का संकट ,पृष्ठ 82
2. . एक बूँद सहसा उछली पृष्ठ
3. पहाड़ ,सहस्राब्दी यात्रा अंक 01 भूमिका से उदधृत
4. गोबिंद चातक,पर्यावरण और संस्कृति का संकट ,पृष्ठ 13
5. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ मध्य हिमालय पृष्ठ 74 - 75
6. विजय जड़धारी, पहाड़ी खेती ,किसानों का परम्परागत विज्ञान पृष्ठ 25
7. D.P. Aggarwal & Manikant Shah,Water Management In India : A Historical Perspective P- 85
8. D.P. Aggarwal & Manikant Shah,Water Management In India : A Historical Perspective P- 85